THE TIMES OF INDIA

Date: 05-05-26

End this free-dom

Voters have punished govts that can't deliver. But how will govts deliver, if freebies wreck their finances?

TOI Editorials

Results are out, and they reveal a season of discontent. When three of four large states dislodge incumbents with firm mandates, something's broken on the ground, from east to south, and maybe elsewhere. BJP's eyed Bengal for years, but cultural and ideological barriers against it were always considered too high. Until they weren't. Tamil Nadu had been a two-party game of musical chairs for almost 60 years. Now a third player, a political greenhorn, has been ushered in with a landslide. Sans a vote, these changes would be considered revolutionary. But since we are a democracy, and the largest at that, all parties must introspect.

To give credit where it's due, BJP's sweep of Bengal is largely down to dogged determination. It takes more than astute salesmanship for an 'outsider' to become the alternative to 'Maa, Mati, Manush'. When it failed to get a majority on its own, in 2024 LS polls, many thought the party would lose some of its scrappiness. But it's gone on to win poll after assembly poll – Haryana, Maharashtra, Delhi, Bihar, and now Assam and Bengal – with vast margins.

TVK's rise in TN is puzzling at first. TN is one of India's fastest growing state economies – 10.8% in 2025-26. What reason did voters have to punish the incumbent? And why did they cast their lot with Vijay, an actor, and his two-year-old untested party? Stardom doesn't explain it, because Rajinikanth and Kamal Haasan have tried and faltered at politics in recent years. What's carried Vijay aloft is his focus on youth, and real issues like jobs and education, rather than Dravidian identity politics. Even in Kerala, where the switch from LDF to UDF is less unexpected, these ground issues have shaped the mandate.

Which brings us back to the need for introspection across parties. Why are voters unhappy? Because their key aspiration – an environment in which they can improve their lot with better health, education and employment – isn't fulfilled. And states can't deliver it because their finances are compromised by a growing number of freebies. As Economic Survey points out, just the unconditional cash transfers to women now amount to Rs 1.7L crore. And because such handouts are politically expedient, the number of states offering them has grown five-fold.

Every party in the latest election cycle promised monthly doles to women and unemployed youth, although that would leave little spare cash for development. Even Supreme Court flagged the growing 'freebie culture' in Feb. It isn't easy to stop, but if BJP, which now governs most of the large states, takes a firm stand against competitive populism, change is possible. It should bite the bullet.

दैनिक जागरण

Date: 05-05-26

राष्ट्रीय राजनीति को बदलने वाले नतीजे

राहुल वर्मा, (लेखक राजनीतिक विश्लेषक एवं सेंटर फार पालिसी रिसर्च में फेलो हैं)

चार राज्यों और एक केंद्रशासित प्रदेश के विधानसभा चुनाव परिणाम मिले-जुले रहे। असम, केरलम और पुडुचेरी के परिणाम अनुमानों के अनुरूप रहे तो पश्चिम बंगाल और तमिलनाडु के नतीजे अप्रत्याशित एवं नाटकीय राजनीतिक परिवर्तन को रेखांकित कर रहे हैं। असम के बारे में माना जा रहा था कि भाजपा सत्ता में वापसी करने में सफल रहेगी तो केरलम में कांग्रेस को कामयाबी मिलेगी। पुडुचेरी में भी राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन की राह में कोई मुश्किल नहीं दिख रही थी। दो बड़े चुनावी राज्यों में से एक तमिलनाडु में नई-नवेली पार्टी टीवीके की भारी जीत ने राजनीतिक पंडितों को भी हैरान किया तो बंगाल में भाजपा की ऐतिहासिक जीत ने लंबे समय से कायम ममता बनर्जी को सत्ता से बाहर का रास्ता दिखाया। इन दोनों बड़े राज्यों में भारी राजनीतिक उलटफेर हुआ है।

पिछले कुछ वर्षों में असम भाजपा के राजनीतिक वर्चस्व वाले राज्य के रूप में उभरा है। लगातार सत्ता में रहने के बावजूद उसकी सीटों में बढ़ोतरी दर्शाती है कि जनता सरकार के कामकाज से काफी संतुष्ट है। 2023 में विधानसभा क्षेत्रों के नए सिरे से परिसीमन ने भी भाजपा की राजनीतिक ताकत बढ़ाई है। बोडोलैंड में सहयोगी दलों और असम गण परिषद के साथ ने भी पार्टी को मजबूती दी। कल्याणकारी योजनाओं और मुख्यमंत्री हिमंत की लोकप्रियता भी उसके पक्ष में जाती है। दूसरी ओर कांग्रेस सांगठनिक स्तर पर एकदम लुंज-पुंज हो गई है। चुनावों के दौरान ही उसकी राज्य इकाई के पूर्व अध्यक्ष के अलावा प्रचार अभियान समिति के प्रमुख जैसे दो दिग्गज नेता भारतीय जनता पार्टी में शामिल हो गए। यह दर्शाता है कि राज्य की राजनीतिक हवा कांग्रेस के कितने विपरीत रही, जिसकी पुष्टि न केवल घटी हुई सीटों, बल्कि गौरव गोगोई जैसे नेता की हार में भी झलकती है, जिनके चेहरे पर पार्टी चुनाव लड़ रही थी।

केरलम में दस साल से वामपंथी सरकार सत्ता में थी, जिसने पिछले विधानसभा चुनाव में हर पांच साल में सरकार बदलने वाले राज्य के राजनीतिक रुझान को धता बताते हुए सत्ता में वापसी की थी। इसलिए यहां राजनीतिक परिवर्तन अवश्यंभावी माना जा रहा था। भाजपा यहां राजनीतिक पैठ बढ़ाने के प्रयास तो भरपूर कर रही है, पर वे फलीभूत नहीं हो पा रहे। वैसे भाजपा के इन प्रयासों की कीमत वाम दलों को चुकानी पड़ी, क्योंकि वह दक्षिण केरल और हिंदुओं विशेषकर एझावा जैसे उन समुदायों को साधने की जुगत में है, जो पारंपरिक रूप से वाम समर्थक माने जाते हैं। इसीलिए, केरलम की राजनीतिक लड़ाई में कांग्रेस के लिए कोई खास मुश्किल नहीं थी। केरलम से विदाई के बाद अब किसी भी राज्य में वामपंथी दलों की सरकार नहीं रह गई है।

बंगाल में भाजपा की ऐतिहासिक जीत पर भले ही कुछ राजनीतिक प्रेक्षक हैरानी जताएं, लेकिन राज्य की सत्ता तक उसकी पहुंच बस समय की ही बात थी। वर्ष 2019 से हो रहे चुनावों के समय से ही भाजपा करीब 40 प्रतिशत मतों के स्तर पर अटकी थी और इसमें पांच प्रतिशत तक की बढ़ोतरी उसे राज्य की कमान दिलाने को पर्याप्त थी। यह चुनाव उसके सत्तारोहण

का पड़ाव बनकर उभरा। मतदाता सूचियों के गहन पुनरीक्षण यानी एसआइआर की भूमिका को भी भाजपा की चुनावी जीत में एक कारक माना जा सकता है, लेकिन यही इकलौता कारण नहीं रहा। राज्य की ममता बनर्जी सरकार लंबे समय से कायम सत्ता से उपजे असंतोष से भी जूझ रही थी। विभिन्न योजनाओं को लेकर केंद्र के साथ उनका टकराव भी एक वर्ग को अखर रहा था कि राज्य को इसके चलते अपेक्षित लाभ नहीं मिल पा रहे हैं। ममता बनर्जी की निजी लोकप्रियता के बावजूद उन्हें सबसे अधिक दुष्परिणाम अपने स्थानीय कार्यकर्ताओं के मनमानेपन और बड़बोलेपन का ही भुगतना पड़ा, जो लोगों को आतंकित करने के साथ ही उनके दैनंदिन जीवन में अनावश्यक हस्तक्षेप भी करते थे। इस बार चुनाव आयोग द्वारा मुहैया व्यापक सुरक्षा छत्र राज्य सरकार से कुपित मतदाताओं को आश्वस्त करने वाला साबित हुआ और मतदान के रुझान से लेकर परिणाम भी इस पहलू को पुष्ट करते हुए प्रतीत होते हैं। भाजपा ने भी पिछले विधानसभा चुनाव में की गई गलतियों से सबक लेते हुए सकारात्मक अभियान पर ध्यान केंद्रित किया, जिसका भी उसे लाभ मिला।

चुनाव परिणामों को लेकर सबसे हैरान करने का काम तमिलनाडु ने किया है, जहां 1967 के बाद पहली बार द्रविड़ केंद्रित राजनीति से इतर कोई दल सत्ता के शिखर पर उभरा है। तमिलनाडु की राजनीति पर फिल्म जगत का प्रभाव हमेशा से रहा है और देश में पहले भी बड़े राजनीतिक उलटफेर हुए हैं, लेकिन अभिनेता से नेता बने विजय की जीत कई मायनों में अप्रत्याशित रही है। एक समय एनटीआर ने समूचे आंध्र प्रदेश का दौरा कर अपनी सिनेमाई छवि को राजनीतिक स्वरूप दिया था, लेकिन उसकी तुलना में विजय ने ऐसा कुछ नहीं किया। आम आदमी पार्टी और असम गण परिषद जैसे एकाएक सफल हुए राजनीतिक प्रयोगों की पृष्ठभूमि भी कहीं न कहीं किसी सामाजिक-राजनीतिक आंदोलनों से जुड़ी रही, लेकिन विजय की टीवीके के साथ ऐसा भी कुछ नहीं रहा। इसलिए उनकी जीत वाकई चौंकाने वाली है।

इन चुनावों से भाजपा को बड़ा राजनीतिक संबल मिलेगा। केरलम और तमिलनाडु में असफलता के बावजूद असम में पहले से अधिक मजबूती और बंगाल के प्रचंड जनादेश से उसका 'मिशन ईस्ट' लगभग पूरा हो गया है। इससे उत्साहित पार्टी दक्षिण में और मजबूती के साथ अपनी ताकत लगाएगी। तृणमूल कांग्रेस और द्रमुक की ऐसी जबरदस्त हार विपक्षी दलों के मोर्चे आइएनडीआइए के लिए तगड़ा झटका है, क्योंकि ये इस गठबंधन के प्रमुख स्तंभ रहे हैं। उनकी हार से इस गठबंधन का संतुलन भी बदलेगा। कांग्रेस का दो राज्यों में दांव लगा था, जिसमें केरलम की जीत से उसे दम तो मिलेगा, लेकिन असम उसके लिए जिस तरह विषम होता जा रहा है, उसकी टीस उसे सालती रहेगी। लोकसभा सीटों के लिहाज से बड़े राज्यों में निरंतर हाशिए पर पहुंचना भी उसके लिए चिंतित करने वाला पहलू बनता जा रहा है।

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 05-05-26

अब वादे निभाने की बारी

संपादकीय

असम और केंद्र शासित प्रदेश पुदुच्चेरी को छोड़ दिया जाए तो ताजा विधान सभा चुनाव परिणामों का प्रमुख संदेश यही है कि मतदाता बदलाव चाहते हैं। दो साल पहले अभिनेता से राजनेता बने जोसेफ विजय चंद्रशेखर (लोकप्रिय नाम विजय) द्वारा बनाई गई पार्टी तमिलगा वेट्री कषगम (टीवीके) की कामयाबी इसका बेहतरीन उदाहरण है। टीवीके ने तमिलनाडु के दो पुराने राजनीतिक दलों सत्ताधारी द्रविड़ मुन्नेत्र कषगम (द्रमुक) और अखिल भारतीय अन्ना द्रविड़ मुन्नेत्र कषगम (एआईएडीएमके) को न केवल कड़ी चुनौती दी बल्कि सबसे बड़ा दल बनकर भी उभरी। विजय ने अपनी विराट सितारा छवि और शक्ति का उपयोग एक 'परिवर्तनकारी' विकल्प के रूप में किया जिसमें नकद और सोने जैसी भारी मुफ्त सुविधाओं के ऐलान के साथ-साथ महिलाओं और युवा मतदाताओं को लक्षित करने वाली छात्रवृत्तियों के प्रस्ताव भी शामिल थे। ये सभी बड़ी संख्या में मतदान करने आए। केरलम में मतदाताओं ने अपनी पारंपरिक प्रवृत्ति की ओर लौटते हुए दो स्थापित राजनीतिक गठबंधनों की अदला-बदली जारी रखी है। कांग्रेस-नेतृत्व वाले यूनाइटेड डेमोक्रेटिक फ्रंट ने पिनाराई विजयन के लेफ्ट डेमोक्रेटिक फ्रंट की ऐतिहासिक दो कार्यकालों की जीत को बड़े अंतर से पलट दिया।

सत्ताविरोधी भावना का सबसे स्पष्ट सबक पश्चिम बंगाल से निकला जहां भारतीय जनता पार्टी (भाजपा) ने आखिरकार ममता बनर्जी के नेतृत्व वाली तृणमूल कांग्रेस को 15 साल के बाद सत्ता से बाहर का रास्ता दिखाने की अपनी हसरत पूरी कर ली। प्रदेश में दोनों चरणों में रिकॉर्ड मतदान हुआ था। मतदान और जीत का पैमाना दोनों यह स्पष्ट करते हैं कि विवादास्पद विशेष गहन पुनरीक्षण यानी एसआईआर की चुनाव परिणामों में बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका नहीं रही। तृणमूल कांग्रेस ने इसे चुनाव अभियान के केंद्र में रखकर गलत आकलन किया। परंतु इससे ममता बनर्जी के शासन की अस्थिर होती प्रकृति को कम करके दिखाने में कोई मदद नहीं मिली। निवेश में ठहराव, पार्टी में बढ़ता भ्रष्टाचार, महिला सुरक्षा को लेकर समानुभूति का न होना और बढ़ती राजनीतिक हिंसा। इन सभी ने युवा मतदाताओं और महिलाओं को पार्टी से विमुख करने में अहम भूमिका निभाई। तृणमूल कांग्रेस की सरकार का आयुष्मान भारत-प्रधानमंत्री जन आरोग्य योजना जैसी केंद्रीय योजनाओं का विरोध करना भी इसमें अहम हो सकता है। ममता बनर्जी की अल्पसंख्यकों को 'सुरक्षित' वोट बैंक के रूप में तुष्ट करने की नीति भी उनके खिलाफ गई। और भाजपा एक विश्वसनीय विकल्प के रूप में सामने आई। यह ममता बनर्जी के शासन रिकॉर्ड के बारे में बहुत कुछ कहता है कि भाजपा ने कई मुस्लिम-बहुल निर्वाचन क्षेत्रों में उल्लेखनीय पैठ बनाई है।

एक बार अंतिम परिणाम आने के बाद, शासन का वास्तविक कामकाज ही आने वाली सरकारों की क्षमता की परीक्षा लेगा। तमिलनाडु में, जहां टीवीके को सरकार बनाने के लिए संभवतः सहयोगियों की आवश्यकता होगी वहां विजय को यह आभास हो सकता है कि उच्च ऋण और राजकोषीय दबाव उनकी कल्याणकारी योजनाओं की उदारता को कम कर सकते हैं। उनके वादों में महिलाओं के लिए 2,500 रुपये मासिक भत्ता, गरीब महिलाओं के लिए विवाह सहायता (सोना और रेशमी साड़ी), मुफ्त रसोई गैस, परिवहन और स्वच्छता उत्पाद, छात्रवृत्तियां, प्रारंभिक ऋण और बहुत कुछ शामिल थे।

केरल में मुख्य चुनौती खाड़ी देशों में नौकरियों और वहां से धन प्रेषण में कमी के कारण उत्पन्न तात्कालिक संकट को संभालने की है जिसने लंबे समय से राज्य में आर्थिक वृद्धि और नौकरियों की कमी को छिपा रखा था। बहुलतावादी संस्कृति वाले पश्चिम बंगाल में, भाजपा के 'विकास' एजेंडे की परख अब बंगाली समाज के खुले सांप्रदायिक ध्रुवीकरण के मुकाबले होगी। इन प्रतिस्पर्धी ताकतों को संतुलित करने के लिए भूमि कानूनों को उलटना, दशकों की राजनीतिक हिंसा को थामना और कई दशकों बाद राज्य को व्यवसाय-अनुकूल बनाना आवश्यक होगा। जैसा कि राजनीतिक दलों ने अतीत में

भी महसूस किया है, चुनाव जीतने और शासन चलाने के बीच की खाई को पाटना एक चुनौतीपूर्ण कार्य हो सकता है।

Date: 05-05-26

रुपये को संभालने के फायदे कम, नुकसान ज्यादा

राजेश्वरी सेनगुप्ता, (लेखिका मुंबई स्थित आईजीआईडीआर में अर्थशास्त्र की एसोसिएट प्रोफेसर हैं।)

पिछले कुछ हफ्तों से सभी की नजरें रुपये पर टिकी हुई हैं। अमेरिकी मुद्रा डॉलर की तुलना में रुपये का लगातार फिसलना कौतूहल का विषय बनता जा रहा है। रुपये की चाल पर हो रही टीका-टिप्पणी में इसकी व्याख्या कमजोरी के संकेत के रूप में हो रही है। इसके साथ ही, रुपया संभालने के लिए केंद्रीय बैंकों द्वारा किए गए प्रयासों की अक्सर तारीफ भी हो रही है।

मगर यह दृष्टिकोण एक बुनियादी बात को नजरअंदाज करता है। यानी विनिमय दर एक मूल्य है और किसी भी अन्य मूल्य की तरह इसे मांग और आपूर्ति में बदलाव के अनुसार समायोजित करना पड़ता है। इसे कृत्रिम स्तर पर बनाए रखने की कोशिश करने से अंदरूनी असंतुलन दुरुस्त नहीं होता है। इससे बस संकट कुछ समय के लिए टल जाता है जिससे आगे होने वाली गिरावट और अधिक व्यवधान लेकर आती है।

इसे समझने के लिए एक जाने-पहचाने उदाहरण पर विचार करते हैं। जिस साल मॉनसून कमजोर होता है यानी कम बारिश होती है उसमें सब्जियों की आपूर्ति मांग से कम हो जाती है। इससे कीमतें बढ़ जाती हैं और फिर आगे की कवायद शुरू हो जाती है यानी लोग उपभोग कम कर देते हैं और किसानों को बाजार में यथासंभव अधिक से अधिक उपज लाने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। इससे मांग और आपूर्ति में असंतुलन स्वयं दुरुस्त होने लगता है। अब जरा कल्पना कीजिए कि सरकार कीमतें बढ़ने से रोकने के लिए हस्तक्षेप करना शुरू कर देती है। मांग और आपूर्ति के बीच का अंतर खत्म नहीं होता और यह बना रहता है। इसे नियंत्रित करने के लिए सरकार को बिक्री पर सीमा लगाने सहित अन्य प्रतिबंध लगाने पड़ते हैं। इसका नतीजा यह होता है कि उपभोक्ताओं को कमी और सीमित पहुंच से जूझना पड़ता है जिससे हस्तक्षेप का मूल उद्देश्य ही विफल हो जाता है। यही कारण है कि सरकारें आमतौर पर कीमतें नियंत्रित करने की बजाय उन्हें समायोजित होने देती हैं। यही तर्क विदेशी मुद्रा बाजार पर भी लागू होता है। जब डॉलर की मांग आपूर्ति से अधिक हो जाती है तो डॉलर की कीमत बढ़ जाती है (और रुपये की कीमत गिर जाती है)। फिलहाल जो हम देख रहे हैं वह बाजार का बुनियादी समायोजन है।

तो डॉलर की मांग आपूर्ति से अधिक तेजी से क्यों बढ़ रही है? इसके दो मुख्य कारण हैं। सबसे पहले तो भारत का चालू खाता घाटा 2025-26 में लगभग 40 अरब डॉलर था मगर इसे पूरा करने के लिए विदेशी पूंजी की आमद अपर्याप्त थी। यह असंतुलन इस बात को समझने में सहायक है कि पिछले वर्ष रुपया पहले से ही दबाव में क्यों था। दूसरा, पश्चिम एशिया में युद्ध ने स्थिति और खराब कर दी है। प्रमुख आयातित वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि के कारण चालू खाता घाटा और

बढ़ने की आशंका है (संभवतः इस वर्ष लगभग 80 अरब डॉलर तक)। भारत के सामने एक कठिन चुनौती है यानी उसे लगभग 80 अरब डॉलर की विदेशी पूंजी आकर्षित करने की आवश्यकता है, जबकि यह ऐसा समय है कि वैश्विक निवेशक जोखिम से बचने लगे हैं और उभरते बाजारों से पैसा निकालकर सुरक्षित विकसित अर्थव्यवस्थाओं में झोंक रहे हैं।

ऐसी हालत में संतुलन बहाल करने का सबसे व्यावहारिक तरीका रुपये में गिरावट को जारी रहने देना है। अब सवाल उठता है कि आखिर इससे कैसे मदद मिलेगी? यह ठीक उसी तरह काम करेगा जैसे सब्जियों की ऊंची कीमतें संतुलन बहाल करती हैं (मांग कम कर और आपूर्ति प्रोत्साहित कर)। विनिमय दर दो प्रमुख माध्यमों से कार्य करती है। पहला, कमजोर रुपया व्यापार के माध्यम से संतुलन बहाल करने में मदद करता है। रुपये के अवमूल्यन से विदेशी खरीदारों के लिए भारतीय सामान सस्ते हो जाते हैं जिससे निर्यात बढ़ता है और अधिक डॉलर प्राप्त होते हैं। साथ ही, आयात महंगा हो जाता है जिससे विदेशी सामानों की घरेलू मांग कम हो जाती है। ये दोनों प्रभाव मिलकर चालू खाता घाटे को कम करने में मदद करते हैं। दूसरा, कमजोर रुपये से विदेशी निवेशकों के लिए भारतीय वित्तीय परिसंपत्तियां सस्ती हो जाती हैं। डॉलर के लिहाज से भारतीय शेयर और बॉन्ड सस्ते हो जाते हैं जिससे वे अधिक आकर्षक बन सकते हैं। इससे भारतीय बाजारों में विदेशी निवेश को प्रोत्साहन मिल सकता है जिससे अधिक डॉलर आते हैं और चालू खाता घाटा कम करने में मदद मिलती है।

इसके उलट अगर नीति-निर्माता विनिमय दर कृत्रिम स्तर पर बनाए रखने का प्रयास करते हैं तो अंतर्निहित असंतुलन दूर नहीं होता बल्कि यह बना रहता है और समय के साथ और भी बढ़ सकता है। इसका मुख्य कारण यह है कि बाजार 80 अरब डॉलर की जरूरत से अवगत है। केंद्रीय बैंक हर समय डॉलर बेचकर इसकी भरपाई नहीं कर सकता क्योंकि अंततः उसके भंडार समाप्त हो जाएंगे। जब तक यह अंतर स्वतः खत्म बंद होने की उम्मीद नहीं हो तब तक रुपये का कुछ हद तक अवमूल्यन अपरिहार्य हो जाता है। इस स्थिति का सामना करते हुए कंपनियां और परिवार स्वाभाविक रूप से अपनी संपत्ति की सुरक्षा के तरीके तलाशेंगी जिसमें इसका कुछ हिस्सा विदेश में स्थानांतरित करना भी शामिल है।

एक और चिंता का विषय है। जब केंद्रीय बैंक विनिमय दर को नियंत्रित करने का प्रयास करता है तो निजी क्षेत्र का ध्यान बाजार से मिले रहे संकेतों से हटकर केंद्रीय बैंक के अगले कदम का अनुमान लगाने पर केंद्रित हो जाता है। यह अनिश्चितता स्वयं अस्थिरता का कारण बन सकती है। अगर मुद्रा को प्रतिबंधों के माध्यम से सहारा दिया जाता है (जैसे हाल ही में सोने और चांदी के आयात पर लगाए गए प्रतिबंध) तो यह निजी क्षेत्र को अस्थिर कर सकता है और आगे के नियंत्रणों की आशंकाओं को बढ़ा सकता है।

ऐसी आशंकाएं एहतियाती व्यवहार को जन्म दे सकती हैं जिससे कंपनियां और लोग देश से धन बाहर निकालने लगते हैं जिससे रुपये पर दबाव और बढ़ जाता है। दूसरे शब्दों में केंद्रीय बैंक द्वारा रुपये को नियंत्रित करने के प्रयास लाभ से अधिक हानि पहुंचा सकते हैं। यानी केंद्रीय बैंक के हस्तक्षेप से विश्वास में कमी आएगी, अनिश्चितता बढ़ जाएगी और बाजार से मिलने वाले संकेत अस्पष्ट हो जाएंगे। इससे डॉलर की मांग और आपूर्ति के बीच का अंतर बढ़ सकता है, निवेश की रफ्तार कमजोर पड़ सकती है और आर्थिक सुधार जटिल हो सकता है। विनिमय दर समस्या नहीं है बल्कि समस्या वह तंत्र है जिसके माध्यम से इसका समाधान किया जाता है। इसे नियंत्रित करने से केवल समायोजन में देरी होती है और अंततः लागत बढ़ जाती है। इन परिस्थितियों में सबसे प्रभावी नीति सबसे सरल भी है यानी रुपये को स्वतंत्र रूप से चलने दें और उसे अर्थव्यवस्था के प्राथमिक झटकों से निपटने के माध्यम के रूप में अपना काम करने दें।

जनसत्ता

Date: 05-05-26

हरित ऊर्जा की राह में संतुलन की चुनौती

विजयशंकर चतुर्वेदी

वर्तमान में दुनिया एक बड़े ऊर्जा बदलाव के दौर से गुजर रही है। जलवायु परिवर्तन की चुनौती, बढ़ता प्रदूषण और जीवाश्म ईंधन पर निर्भरता ने यह स्पष्ट कर दिया है कि पुराने रास्ते अब टिकाऊ नहीं रहे। मगर इस पूरी बहस के बीच एक बुनियादी सवाल अक्सर छूट जाता है- क्या हरित भविष्य सचमुच सबके लिए होगा, या फिर यह भी उस विकास की तरह होगा, जो कुछ लोगों तक सीमित रह जाता है? ऊर्जा संक्रमण को आमतौर पर तकनीकी बदलाव के रूप में देखा जाता है। जैसे- कोयले और तेल से हटकर सौर, पवन, बैटरी और ग्रीन हाइड्रोजन जैसी स्वच्छ ऊर्जा की ओर बढ़ना। मगर असल में यह केवल तकनीक का सवाल नहीं है, यह समाज, अर्थव्यवस्था और बराबरी का भी प्रश्न है। ऊर्जा का अर्थ केवल बिजली या ईंधन की उपलब्धता नहीं है, बल्कि इससे तय होता है कि जीवन कितना आसान होगा, अवसर किसे मिलेंगे और विकास से कौन लाभान्वित होगा। भारत के परिप्रेक्ष्य में यह सवाल और जटिल हो जाता है। एक तरफ तेजी से बढ़ती अर्थव्यवस्था है, उद्योगों और शहरों में ऊर्जा की मांग लगातार बढ़ रही है। दूसरी तरफ ऐसे करोड़ों लोग हैं, जिनके लिए ऊर्जा आज भी अनिश्चित और महंगी है।

इसमें दोराय नहीं कि भारत ने ऊर्जा के क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रगति की है। करोड़ों घरों तक बिजली पहुंची है और प्रति व्यक्ति वार्षिक बिजली खपत औसतन 1,400-1,500 यूनिट के आसपास हो गई है। मगर इस प्रगति के बावजूद उपयोग और पहुंच के बीच का अंतर आज भी बना हुआ है। यही अंतर भेदभाव की असली परिभाषा तय करता है। शहरों में जहां बिजली की घरेलू खपत कई सौ यूनिट तक पहुंच चुकी है, वहीं ग्रामीण इलाकों में स्थिति अब भी दयनीय है। इस बात को समझना होगा कि बिजली का कनेक्शन होना और निर्बाध आपूर्ति, दो अलग-अलग पहलू हैं। घरों में सिर्फ मीटर लगा देना को बिजली आपूर्ति से जोड़ देने के रूप में नहीं देखा जा सकता, निर्बाध आपूर्ति सुनिश्चित करना भी जरूरी है। यानी ऊर्जा की उपलब्धता और उसकी गुणवत्ता का भी ध्यान रखा जाना चाहिए। कई ग्रामीण और छोटे कस्बों में बिजली का कनेक्शन तो है, लेकिन आपूर्ति की निरंतरता, असमय कटौती और वोल्टेज की स्थिरता चुनौती बनी हुई है।

आने वाले वर्षों में देश में बिजली की मांग तेजी से बढ़ने वाली है। इस मांग का बड़ा हिस्सा उद्योगों, डेटा केंद्रों, वातानुकूलन और शहरी खपत से आएगा। अगर यही प्रवृत्ति जारी रही, तो ऊर्जा परिवर्तन उपभोक्ताओं की गैर-बराबरी को कम करने के बजाय और गहरा करेगा। अगर ऊर्जा का वितरण बाजार के तर्क पर ही चलता रहा, तो स्वाभाविक है कि वह उन्हीं तक पहले पहुंचेगी, जो अधिक भुगतान कर सकते हैं। ऐसे में ऊर्जा एक बुनियादी सेवा से धीरे-धीरे 'उच्च स्तरीय सुविधा' में बदल सकती है, जो सबके लिए समान रूप से उपलब्ध नहीं होगी। सौर ऊर्जा के तेज विस्तार का लाभ भी मुख्यत: उन्हीं वर्गों तक पहुंचा है, जिनके पास निवेश करने की क्षमता है। बड़े शहरों में छत पर सौर ऊर्जा उपकरण लगाने वाले उपभोक्ताओं

की संख्या तेजी से बढ़ी है, जबकि ग्रामीण इलाकों में यह आंकड़ा नाममात्र है। जिनके पास छत, पूंजी और तकनीकी जानकारी है, वे इससे सीधे लाभ उठा रहे हैं। इसके विपरीत जिनके पास ये साधन नहीं हैं, वे इस बदलाव के दायरे से बाहर हैं।

विद्युत चालित वाहनों का विस्तार भी इसी तर्ज पर हो रहा है। यह बदलाव अभी उन वर्गों में ठहरा हुआ है, जो नई तकनीक अपनाने की लागत वहन करने में सक्षम हैं। इससे साफ संकेत मिलते हैं कि स्वच्छ ऊर्जा का लाभ समान रूप से नहीं बंट रहा। ग्रीन या हरित हाइड्रोजन जैसी उभरती तकनीक इस प्रवृत्ति को और स्पष्ट करती है। इसे भविष्य का ईंधन कहा जा रहा है, लेकिन इसका उपयोग मुख्य रूप से बड़े औद्योगिक क्षेत्रों में होता है। इससे यह सवाल उठता है कि क्या नई ऊर्जा तकनीक समाज के व्यापक हिस्से तक पहुंचेगी या केवल उत्पादन और निर्यात के ढांचे तक सीमित रह जाएगी। इतिहास बताता है कि तकनीकी प्रगति अपने आप समानता नहीं लाती। औद्योगिक और डिजिटल क्रांति में भी यही हुआ- पहले लाभ उन्हीं को मिला, जिनके पास संसाधन थे। बाकी समाज को उस लाभ तक पहुंचने में लंबा समय लगा। स्पष्ट है कि ऊर्जा में परिवर्तन को केवल उत्पादन बढ़ाने की नजर से नहीं देखा जा सकता, बल्कि सवाल वितरण के स्वरूप का भी है। अगर नई ऊर्जा का बड़ा हिस्सा उन्हीं क्षेत्रों में केंद्रित रहता है, जहां पहले से विकल्प मौजूद हैं, तो असमानता ही नहीं बढ़ेगी, बल्कि कमजोर और कम पहुंच वाले क्षेत्रों का आर्थिक एवं सामाजिक सशक्तीकरण भी पीछे छूट जाएगा।

ऊर्जा परिवर्तन को समावेशी बनाने के लिए केवल बड़ी परियोजनाएं पर्याप्त नहीं हैं। इसके लिए विकेंद्रीकृत ऊर्जा प्रणालियों की जरूरत है। मसलन- छोटे सौर ऊर्जा संयंत्र, माइक्रो-ग्रिड और सामुदायिक ऊर्जा मॉडल तैयार किए जाने चाहिए, जो ऊर्जा को सीधे उन क्षेत्रों तक पहुंचा सकते हैं, जहां इसकी सबसे अधिक जरूरत है। ये मॉडल ऊर्जा को केवल उपभोग का साधन नहीं, बल्कि स्थानीय विकास का आधार बना सकते हैं। वित्तीय ढांचे को भी इसी दृष्टि से देखना होगा। अभी तक प्रोत्साहन और निवेश का बड़ा हिस्सा उन क्षेत्रों में जाता है, जहां वापसी की संभावना अधिक है। मगर समान वितरण के लिए वहां निवेश करना होगा, जहां जरूरत अधिक है, भले ही उसमें तुरंत आर्थिक लाभ दिखाई न दे। हरित ऊर्जा के लिए जमीन, पानी और खनिजों की आवश्यकता होती है। अगर इनका उपयोग स्थानीय समुदायों के हितों की कीमत पर होता है, तो यह एक नए प्रकार का असंतुलन पैदा करेगा। इसलिए विकास और पर्यावरण के साथ-साथ सामाजिक संतुलन भी जरूरी है।

इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि देश में अक्षय ऊर्जा की बढ़ी क्षमता का लाभ सभी क्षेत्रों तक समान रूप से नहीं पहुंचा है। राज्यों के बीच ऊर्जा उपयोग का अंतर इस बात को और स्पष्ट करता है। उदाहरण के तौर पर गुजरात और पंजाब जैसे राज्यों में प्रति व्यक्ति बिजली खपत 2000 यूनिट से अधिक है, जबकि बिहार में यह लगभग 300 यूनिट और उत्तर प्रदेश में 700 यूनिट के आसपास है। यह अंतर केवल आर्थिक नहीं, बल्कि बुनियादी ढांचे, औद्योगिक विकास और नीतिगत प्राथमिकताओं का भी है। कहीं ऊर्जा विकास का आधार बन रही है, तो कहीं बुनियादी जरूरत के स्तर पर ही सिमटी हुई है। भारत के पास यह अवसर है कि वह ऊर्जा परिवर्तन को एक व्यापक सामाजिक बदलाव का रूप दे सके।

सवाल सिर्फ यह नहीं है कि भारत हरित ऊर्जा की दिशा में कितनी तेजी से बढ़ रहा है, बल्कि यह है कि बदलाव किसके पक्ष में जा रहा है। अगर नीतियां केवल निवेश, निर्यात और बड़े उपभोक्ताओं के इर्द-गिर्द घूमती रहीं, तो हरित ऊर्जा भी सामाजिक स्तर पर खाई को गहरा करेगी। और यदि प्राथमिकता उन लोगों को दी गई, जिनके लिए ऊर्जा आज भी एक बुनियादी जरूरत है, तो यही बदलाव सामाजिक संतुलन का आधार बन सकता है। ऊर्जा का भविष्य केवल हरित होने से तय नहीं होगा, बल्कि इससे निर्धारित होगा कि वह कितना न्यायपूर्ण और समावेशी है। अगर ऊर्जा परिवर्तन सबको साथ लेकर नहीं चला, तो यह न तो टिकाऊ होगा और न ही समान विकास का वाहक बन पाएगा।